अनन्तर/जनसत्ता/3 जून-1 जुलाई, 2007

एक शाम काबुल

ओम थानवी

काबुल के इर्द-गिर्द जहां तक नजर जाए, माटी-लिपे घरों का हुजूम दिखाई देता है। या उजाड़ में छितराए हुए खेत। जैसे मिट्टी में नहीं, रेत में सींचे गए हों। चारों तरफ ऊंचे वनस्पतिविहीन पर्वतों की कतार। बीच में, मानो मटमैले पहाड़ों की हथेली पर, शहर पसरा है। कुछ घर पहाड़ों की ढलान पर बने हैं। कच्चे और पक्के। उनमें हवा खूब आती है, शायद इसलिए 'हवेली' कहलाते हैं।

मई के महीने में भी जहां-तहां बर्फ से ढकी चोटियों वाली हिंदुकुश पर्वतमाला की तलहटी में हमारा बसेरा था। ऊपर देखें तो आकाश छूते पहाड़। पीछे फिजां में तारी धूल। उसके पीछे धूल के बुर्के में दुबका काबुल शहर। सामने संतरी की तरह खड़े चंद देवदार। काबुल कोई छह हजार फीट की ऊंचाई पर है। इसलिए देवदार वहां होते हैं। पहाड़ और ठंडे सहरा के बीच उनकी मौजूदगी एक अनूठा सुकून है।

चालीस लाख की आबादी लांघ जाने वाला शहर अब चाहे उजड़ा दयार लगता हो, कुछ दशक पहले वह दुनिया के निहायत खूबसूरत शहरों में एक था। गुजरे जमाने में उसके जलवे का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि मुगल सल्तनत की नींव रखने वाले रसिक बादशाह बाबर ने जान आगरा में दी, मगर मजार की हसरत काबुल के नाम छोड़ गए।

बर्बादी के ढेर दौर-दौरे देख लेने वाला काबुल आज भी खूबसूरत है। जंग में भले इमारतें बरबाद हो गईं। हरियाली राख हुई। शहर के बीच बहने वाला काबुल दरिया गंदला नाला नजर आता है। दीवारों पर गोलों के दाग हर राहगीर के घावों को कुरेदते हैं। लेकिन कुदरत के कुछ करिश्मे इतिहास के हादसों से आहत नहीं होते।

साफ-शफ्फाफ गहरा नीला आसमान उस शाम अचानक गहराने लगा। जैसे घटाओं ने धरती पर अपनी सलेटी चादर लहरा दी। ऊपर से नीचे कुछ इस तरह जैसे काराकुली टोपी से खुलते हुए अफगान का पग्गड़ कांधे पर ढल आता है।

दोस्त बन गए दाऊद ने बताया, वहां का मौसम बाकी इलाकों से उलट है। ''अभी हमारा मानसून है, मगर खात्मे पर। गंदुम (गेहूं) की बालियां खेतों में खड़ी हैं। मैदानों में तो फसल कट चुकी होगी। यहां गर्मियों का मौसम होगा जुलाई में। फिर सर्दियां और बर्फ।''

पर कुदरत कभी-कभी किस्मत की तरह रूठ जाती है। दाऊद ने बताया कि सात साल काबुल में पानी वाली बर्फ नहीं पड़ी। पड़ी तो सूखी बर्फ। काबुल और उत्तर-पश्चिम में बर्फ का ही सहारा है। बर्फ माने पीने को पानी, फलों से लकदक बागीचों की सिंचाई। जंग के साथ उन्हें सूखे ने भी मारा। पर गए दिसंबर इतनी बर्फ पड़ी कि बाढ़ आ गई। कोई सौ लोग मारे गए। फिर भी दाऊद के मुंह से निकला, ''खैर, अब अच्छे वक्त का आगाज है।''

यह अफगानी शख्सियत का निराला आशावाद है। गिरते हैं और उठ खड़े होते हैं। बीते को जल्द से जल्द भुला देने की कोशिश करते हुए। जैसे कपड़ों की धूल के साथ अतीत को भी झाड़ डाला हो।

क्या यह व्यावहारिक नजरिया है? अतीत को भुलाना। कोई सबक न लेना। क्या यह भविष्य में जुल्म को फिर बुलावा देना नहीं है?

दाऊद बोले, ''मगर इसके सिवा चारा क्या है?''

मालूम नहीं। पर यह मानने में किसी को शायद ही गुरेज हो कि वहां जीवट सिर्फ पठानों में नहीं, हर अफगान में भरा है। उत्कट जिजीविषा उनकी रगों में है। चेहरों पर उम्र से पहले पड़ जाती झुर्रियां और ललाट की सलवटें महज दर्द की रेखाएं नहीं हैं। उनमें आप अभागे अफगानों के संघर्ष की दास्तान पढ़ सकते हैं, जो सिकंदर से लेकर चंगेज खान और अंग्रेजों से लेकर तालिबान तक दमन की अनंत रंगतें देखते और झेलते आए हैं। तैमूरलंग-बाबर सरीखे हुक्मरान की महत्त्वाकांक्षाएं और रूस-अमेरिका की प्रभाववादी दखलंदाजियां भी।

काबुल के लोगों को शायद घरों में बैठे रहना पसंद नहीं। सुबह वहां जल्द फूटती है और उसी के साथ लोगों की आमदरफ्त शुरू हो जाती है। धूप सुबह से कड़ी होती है। सलाम-अलैकुम! खैर-खैरियत? दुआ-सलाम के साथ बाजारों की चहल-पहल बढ़ती जाती है। इसकी वजह यह भी है कि लोगों के पास रोजगार कम है। खासकर दीवारों के भीतर का। खोमचे वाले, फुटपाथी दुकानदार, खरीददार और तमाशबीन ही नहीं, मजदूर, सिपाही और सैनिक सब सड़कों पर हैं। स्कूल न जाने वाले बच्चे भी। वहां से लौटने वाले भी। और भिखारी भी, जिनकी तादाद भारी है।

वक्त की चाल में अफगानिस्तान तरक्की में पिछड़ गया हो, मुल्क की राजधानी में हलकों के नाम बड़े आधुनिक हैं। चिकन स्ट्रीट, फ्लावर स्ट्रीट, सिटी सेंटर, दे-मजंग स्क्वैयर, डाउनटाउन! नए दौर में जाने कितने गोलचक्कर, चौराहे और बाग बदल कर सर्कल, स्क्वैयर और पार्क हो गए हैं। थोड़ा अतीत से राब्ता रखते हुए और कुछ वक्त के साथ भटकते हुए अफगानिस्तान का जीवन मानो इसी तरह हिचकोले खाते हुए आगे बढ़ता है।

रौनक भरी चिकन स्ट्रीट- चूजों से जिसका अब कोई ताल्लुक नहीं- काबुल की धड़कन है। वहां मैं नोट बदलवाने के लिए रुका। हमारे यहां कस्बों में फुटपाथ पर जैसे शीशे के बक्सों वाली पान की दुकानें होती हैं, वहां

बक्सों के पीछे नोट सजाकर उन्हें बदलने वाले बैठे मिलते हैं। एक डॉलर के पचास अफगानीः बक्से के पीछे बैठे बुजुर्ग ने निर्विकार भाव से कहा। काली टोपी पर पगड़ी की तरह बंधी सलेटी 'चादर', छितरी हुई सफेद दाढ़ी, लंबी नाक पर फिसला भारी शीशों वाला लाल चश्मा- छोटी आंखों को बड़ा कर उससे भी बड़ा शून्य रचता हुआ।

दाऊद ने कहा, दाम ठीक है। मैंने एक नोट बक्से पर रखा। बुजुर्ग ने दरी (फारसी का एक रूप) में दाऊद को कुछ कहा तो उसने मेरा नोट बक्से के पीछे कर दिया। फिर उधर रखे ढेर में से दस 'अफगानी' गिनकर बुजुर्ग को दिखाए और उन्हें मेरे सुपुर्द किया। मैंने तब जाकर गौर से देखा। बुजुर्ग की दोनों टांगें आधी थीं। शायद हिलने-डुलने में दिक्कत पेश आती थी।

मैं सिहर-सा गया। क्षणिक चुप्पी के बाद दाऊद के जरिए पूछा कि क्या हाल की लड़ाई में कुछ हुआ? बुजुर्ग ने कहा- नहीं, यह नजीबुल्ला के वक्त की बात है। मुजाहिद्दीन हमले चल रहे थे। एक बारूदी सुरंग पर पांव पड़ गया। पहले एक टांग कटी। दूसरी में जहर मिला तो उसे भी काट दिया। घुटने से नीचे। पांव समेट कर नहीं बैठ सकते, उन्हें तान कर रखना पड़ता है।

क्या दुकान का काम ऐसे ही चलता है? उसी निस्संग मुद्रा में जवाब मिला- नहीं, पोता स्कूल गया है। सीधे यहीं लौटेगा और हाथ बंटाएगा। मालूम हुआ कि काबुल में हर दूसरे-तीसरे घर में लड़ाई के दौरान हाथ-पांव से लाचार हुआ शख्स मिलेगा। औरतें भी, बच्चे भी। और जमीन में जाने कितनी जगह बारूद अभी भी दबा पड़ा है।

चले तो दाऊद ने कहा, बहुत-से बच्चे स्कूलों से लौटकर दुकानों पर आते हैं। ज्यादातर बाहर खेलते हैं। इनका पोता आते ही दुकान के बाहर खड़ा होकर नोट की गड्डी लहराएगा, पर्यटकों-परदेसियों को अफगानी मुद्रा बेचेगा; आवाज लगने पर दौड़कर दुकान पर आएगा और दौड़ते हुए लौट भी जाएगा। बच्चों को सड़क अच्छी लगती है, गद्दी नहीं!

नूह नारवी का एक जाना-माना मिसरा हैः ''कहा काबुल को हम जाएं, कहा काबुल को तुम जाओ; कहा अफगान का डर है, कहा अफगान तो होगा!''

लेकिन सरेराह अफगान से रूबरू हुए शख्स को मिसरे के मायने फिर समझने की तलब होगी। अफगान सुडौल हैं, बलिष्ठ हैं, लड़ाकेहैं- मगर डरावने कहीं से नहीं! दोस्तों में वे मददगार हैं, साफ और सहृदय भी। तालिबान का खयान न करें। अपवाद राम-राज में भी होंगे।

अफगानी मेजबानी का कोई जवाब नहीं। पश्तो कहावत है कि मेहमान दुश्मन हो, तब भी उसकी खातिर करो। मेजबान काम के बीच आपके लिए उठ जाएगा। सारे दिन साथ रहेगा। आभार जताएं तो सिर्फ मुस्कुरा देगा। मुश्किल से कहेगा- ''आप हमारे मेंमान हैं!'' पुलिस और यातायात रोकने वालों से आपको 'मेंमान' कह कर छूट भी दिला देगा। आप किताबों की दुकान में हों चाहे जूतों की, थोड़ी देर आपको वहां लग जाय तो चाय का गिलासनुमा कप सामने हाजिर समझिए।

अफगान लोग चाय हर दम पीते हैं। दफ्तर, घर, दुकान सब जगह चाय के बड़े-बड़े थर्मस रखे हैं। बाजारों में फुटपाथ पर चार-पांच फुट के ढोल जैसे मर्तबान भी। ये चाय की देर रात तक चलने वाली दुकानें हैं। बशर्ते ग्राहक वहां हों। लोग काली चाय पीते हैं या हरी पत्ती वाली।

दिलचस्प बात यह है कि अफगानिस्तान में चाय पैदा नहीं होती। चीन से आती है। या इंडोनेशिया और ब्राजील से। कहीं-कहीं लिप्टन की छुटका थैलियां भी देखीं, जो केतली की गर्दन से बांधकर भीतर लटका दी जाती हैं। तारीफ यह है भले यह सीखा हुआ पेय हो, अफगानों को चाय पीनी आती है। न वे दूध बापरते हैं, न चीनी। केसर-इलायची, लौंग-जावित्री, अदरक, दालचीनी या गरम मसालों की बात छोड़ दें, जो दुनिया में शायद केवल भारत में इस्तेमाल होते हैं।

पर चीनी चाय में वह कशिश कहां जो दार्जीलिंग की चाय में है! अगर अफगान चीनी ढंग से- उबले पानी में भिगो कर- दार्जीलिंग की पत्ती का इस्तेमाल करने लगें तो निश्चय ही अगले रोज दूसरी चाय पीना छोड़ देंगे। डाउनटाउन में एक गली में चाय की दुकान पर चीनी हरी-पत्ती सूंघते हुए मैंने यह दावा कर भी दिया।

दुकानदार बोला- ''यकीनन। आप ठीक फरमाते हैं। बेहतरीन चाय (यह जुमला दरी में बार-बार इस्तेमाल होता है) हिंद की होती है। गरम पानी पड़ते ही पेड़ के पत्तों की तरह खुल जाती है।'' उसने हथेलियों से पत्ते के खुलने का उपक्रम किया, यह पुछल्ला लगाते हुए- ''मगर बहुत महंगी होती है जनाब। चीनी चाय सस्ती है।''

चाय ही क्यों चीन का हर सामान सस्ता है, काबुल के बाजारों का हर मोड़ इसकी गवाही देता है। सस्ता, मगर दोयम दर्जे का।

मगर अफगानों की भलमनसाहत देखिए कि चीन से चाय मंगाई, उनके ढंग से पीनी सीख ली। जर्मनी से गाड़ियां मंगाईं, सारा यातायात यूरोप के नक्शेकदम पर चल पड़ा। जी हां, अफगानिस्तान में वाहन दाएं चलते हैं। मैंने पत्रकार मित्र रहीमुल्ला समन्दर से इसका राज पूछा और यह भी कि ऐसा कब से है? वे बोले, 'शुरू से' दाएं चलते हैं। असल में बादशाह ने गाड़ियों के साथ मैकेनिक भी बुलवाए थे। उन्होंने गाड़ी चलाना सिखाया। गाड़ियों में स्टियरिंग जर्मनी के ढंग से बाईं तरफ होता था, सो यातायात भी उसी ढर्रे पर चल निकला।

''यहां तो सबको आदत पड़ चुकी। मुश्किल उन पख्तूनों को आती है जो पेशावर या क्वेटा जाकर गाड़ी चलाते हैं। कुछ रोज तो यही लगता है मानो सामने की हर गाड़ी ऊपर चढ़ी चली आ रही हो!'' समंदर ने हंसते हुए कहा, पर मुझे उनकी बात ठीक लगी। यूरोप में पहली दफा पहुंचे भारतीय को सिर्फ गाड़ी चलाते वक्त नहीं, दूसरे की गाड़ी में बैठकर भी यह भय सताता है।

पता चला कि बादशाही दौर में काबुल में ट्राम तक चलती थी। उनके खंभों के निशान कुछ जगह अब भी मौजूद हैं। बरसों से अफगानिस्तान आने-जाने वाले पाकिस्तान के इम्तियाज आलम का खयाल है, काबुल बीसवीं सदी के शुरू में भी आधुनिक शहर था।

उन्होंने बताया, खास इमारतों के लिए वास्तुकार फ्रांस से आते थे। जब और इस्लामी मुल्कों में लिपि की हाथ से 'किताबत' होती थी, यहां पश्तो सांचों में ढल चुकी थी। बादशाह अमानुल्ला खां की सिर्फ एक बीवी थी जो लंबी स्कर्ट भी पहन लेती थी। लोग सफाचट चेहरा रख सिर्फ मूंछें बढ़ाते थे। दाढ़ी वाले को दूसरे सूबे का शख्स समझा जाता था। डॉ. नजीबुल्ला के वक्त तक दाढ़ी को काबुल में लोग गैर-जरूरी मानते थे। हत्या के बाद नजीबुल्ला की लाश चौराहे पर टांग कर मुजाहिद्दीन ने खौफ की जड़ें डालीं। रही-सही कसर तालिबान ने पूरी कर दी। ''हकीकत यह है कि काबुल के लोग फितरत से तरक्कीपसंद हैं।''

होटल के अहाते में इम्तियाज आलम से गुफ्तगू चल रही थी। कर्मचारियों की तरफ इशारा करते हुए वे बोले- ''बदलाव को अपना लेने का देखिए क्या जज्बा है! तालिबान के दौर में सब दाढ़ी और सलवार-कमीज-पग्गड़ में थे। हुकूमत बदलते ही सब सफाचट। टाई-सूट में आ गए हैं!''

मगर उनकी एक बात गले नहीं उतरी। बोले, काबुल की जो औरतें अब भी पर्दानशीं हैं, बुर्के के नीचे स्कर्ट पहनती हैं। मैंने कहा, यह कुछ ज्यादा हो गया। पर उसी शाम किताबों की दुकान में अफगानिस्तान पर रायटर्स की तस्वीरों वाली एक किताब पर मेरी नजर पड़ी। दो बुर्कानशीं औरतें तेज कदमों में चली आ रही हैं। अंधड़ है और उसके थपेड़े में औरत का खुला पांव घुटने को छोड़ बुर्के से बाहर निकला है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि पर्दे वाली सब औरतें स्कर्ट पहनना पसंद करती हों। जैसे कि हर काबुलवासी को तरक्कीपसंद नहीं कहा जा सकता। असल में अधिकांश अफगानी समाज अपने स्वभाव में रूढ़िवादी है। तालीम और प्रगति की तरफ उदासीन। औरतों के मामले में काबुल बाकी मुल्क से जरूर थोड़ा आगे होगा। हर राजधानी का अपना रंग होता है।

बहुत-सी औरतें, जो बुर्का या नकाब (जिसमें आंखें उजागर रहती हैं) छोड़ चुकी हैं, गर्दन से सिर तक हिजाब लपेट रखती हैं। चेहरा छोड़कर। कुछ फैशन वाले पतलून-कोट भी पहनती हैं। जैसे समाचार सेवा पजवाक की प्रबंध संपादक फरीदा नेकजाद। मैंने उनसे पूछा- मोहतरमा, तालिबान जब औरत की एड़ी तक नुमाया नहीं होने देते थे, आप यहां कैसे रहती थीं? उड़ते केशों पर अपना इतालवी चश्मा ठूंसते हुए वे बोलीं- मैं यहां थी ही कहां! मैं अकेली नहीं, उस दौर में बड़ी आबादी मुल्क से बाहर थी! वे दिल्ली के बड़े होटलों के नाम बताने लगीं, जहां ठहर चुकी हैं।

काबुल में एक 'बागे जनाना' भी है। उसके भीतर बाजार है। औरतों का कुछ अंतरंग सैर-सपाटा। मैंने रहीमुल्ला समन्दर से पूछा, बाग के भीतर मर्द बिलकुल नहीं जा सकते? ''क्यों नहीं? बुर्का पहन कर जा सकते हैं!'' चुहल भरा जवाब मिला। मस्ती अफगानी स्वभाव में है, बशर्ते वे दोस्त हों और फुरसत में हों।

पढ़े-लिखे युवक काबुल में चाव से जींस-टीशर्ट पहनते हैं। दफ्तर जाने वाले पतलून-कोट। पुरुषों में उम्रदराज या कामकाजी लोग सलवार-कमीज के ऊपर बगैर कालर वाली बंडी पसंद करते हैं। कद्दावर अफगानों पर यह पारंपरिक पोशाक फबती है। माहौल में खुश्की है, इसके बावजूद कपड़ों के रंग वहां चटक नहीं होते। यहां तक कि बुर्का भी आसमानी होता है। निकर में मैंने काबुल में किसी पुरुष को नहीं देखा। न दौड़ लगाते हुए, न होटल के तरणताल में नहाते हुए।

तालिबान के पतन से लोग खुश हैं। राष्ट्रपति हामिद करजाई की हुकूमत से भी। हवाई अड्डे से लेकर हर दफ्तर-चौराहे पर करजाई और अहमद शाह मसूद की तस्वीरें लगी हैं। कुकुरमुत्ते की शक्ल वाली पटदार 'पकोल' टोपी में मसूद की बड़ी तस्वीरें फुटपाथ पर बिकती हैं। पहले रूस से लड़ने वाले और फिर मुजाहिद्दीन से छापामार नेता बनकर तालिबान से जूझने वाले 'पंजशिर के शेर' मसूद का करिश्मा लोगों के दिलों पर छाया है।

वे मानते हैं, मसूद की हत्या ग्यारह सितंबर के हमले से ठीक दो रोज पहले उसामा बिन-लादेन के कहने पर की गई। ताकि बाद में उसामा अफगानिस्तान में पनाह पा सके। दबे स्वर में मसूद की टीका करने वाले लोग भी हैं, लेकिन इने-गिने। यह भी अफगानी तबीयत की खासियत लगी कि कितना ही नाजुक या पेचीदा मुद्दा हो, अपनी राय दो टूक रखते हैं। कूटनीति उन्हें नहीं आती। यही वजह है कि कठोर चेहरों में भी सरलता झलकती है।

तालिबानी गतिविधियां जहां-तहां अब भी जारी हैं। इसीलिए हमें हेरात, कंधार, गजनी या बामियान जैसी जगहें अगले सफर के लिए छोड़ देने की हिदायत दी गई। काबुल में अपेक्षया शांति है। दहशतगर्द कंधार में सबसे ज्यादा सक्रिय हैं। वे फिदायीन हमले करते हैं। कभी-कभार सुरंगों का विस्फोट। काबुल में भी एक बम हमारे वहां पहुंचने से दो रोज पहले फूटा था। पर अफगानी जीवन में ऐसा घटनाक्रम आम है, जो अब किसी को चौंकाता नहीं।

जो हो, तालिबान के हुक्मनामे अब इतिहास में दफ्न हो चुके हैं। लोग मनचाहे कपड़े पहन सकते हैं। बुर्के लाजिमी नहीं। वे महज बिरादरी की रिवायत हैं। औरतें काम पर जा सकती हैं। लड़कियां फिर स्कूल जाने लगी हैं। सिनेमा या टीवी देखना, नाचना-गाना, पतंग उड़ाना, पटाखे छोड़ना, शतरंज या ताश खेलना, कंप्यूटर पर बैठना अब सब जायज है। यह खुली हवा का झोंका है, जिसकी राहत हर चेहरे पर जाहिर है।

विकास के काम जगह-जगह देखने को मिलते हैं। नई और चौड़ी सड़कें बन रही हैं। नक्शे के बाहर बने बाजार ढहाए जा रहे हैं। बहुमंजिला इमारतें तामीर हो रही हैं। सब बाहरी मदद का करम है। देखना होगा कि मदद कब तक कायम रहती है। अमेरिका ने बस्तियां उजाड़ने का दाम अदा किया है। यूरोप के और देशों ने भी। यह बात दीगर है कि अफगानिस्तान को फिर आबाद करने का ठेका उन्हीं देशों के व्यापारियों को दिया गया है। आगा खां न्यास जैसी संस्थाएं बागे-बाबर और दूसरे उजड़े स्मारक दुरुस्त कर रही हैं।

फिर भी लड़ाई की मार काबुल के बदन पर ताजा है। नई इमारतों के पिछवाड़े बमों की शिकार इमारतें ताश के पत्तों की तरह दुहरी हुई पड़ी हैं। मलबे से सड़कें सिकुड़ गई हैं और रेत माहौल में छाई है। दे-मजंग स्क्वैयर वाली सड़क और आगे काबुल विश्वविद्यालय के आसपास ऐसी बहुत-सी खंडहर इमारतें हैं। नगर के कमोबेश सभी स्मारक और कीर्त्तिस्तंभ बमबारी में तबाह हो गए हैं। संग्रहालय लुट गया है। समंदर के मुताबिक, शहर में अब फिर कुछ जान है। ''साल भर पहले आए होते तो मालूम पड़ता लोग किस दुःस्वप्न से बाहर निकले हैं।''

भारत के प्रति अफगानी समाज दिल से कृतज्ञता व्यक्त करता अनुभव होता है। सड़कों पर भारत और जापान की तरफ से भेजी गई बसें हैं। बच्चों के लिए एक बड़ा अस्पताल इंदिरा गांधी के नाम पर बन खड़ा हुआ है। कई क्षेत्रों में मदद के लिए विशेषज्ञ वहां पहुंचे हैं। भारत का मोबाइल भले पाकिस्तान में न चले, पर समूचे अफगानिस्तान में चलता है। दोनों देशों के बीच वीजा मुफ्त है। जबकि पाकिस्तान के साथ, बीस रुपए सही, वीजा शुल्क का इंतजाम है। काबुल में भारतीय दूतावास के बाहर वीजा के लिए लंबी कतार लगती है। जैसे पहले दिल्ली में अमेरिकी दूतावास के बाहर लगा करती थी। अफगान जटिल रोगों के इलाज के लिए दिल्ली आते हैं। या कारोबार के लिए।

भारत का नाम लेते ही गर्मजोशी अफगानिस्तान में दूनी हो जाती है। यहां तक, कि एयरपोर्ट पर बंद खिड़की खुल सकती है; गाड़ी आपको लेने विमान के दरवाजे तक पहुंच सकती है।

तुलसी घर-घर में जाना जाने वाला नाम है। दाऊद ने बताया कि उसकी मां धारावाहिक की एक भी कड़ी नहीं छोड़ पाती। वह तुलसी की मुरीद है। उसे हैरानी हुई जब बताया कि मैंने कभी वह कार्यक्रम नहीं देखा। लौटकर जब खबर पढ़ी कि तुलसी ट्रक के साथ खाई में जा गिरी, मुझे दाऊद की मां का खयाल आया। पता नहीं क्या गुजरी होगी। दिलचस्प बात है कि भारतीय टीवी और सिनेमा इतने लोकप्रिय हैं। कुछ लोग वहां हिंदी-उर्दू थोड़ा-बहुत समझ

लेते हैं। वरना बाजार से वे दरी संवादों वाली सीडी-कैसेट ले आते हैं। हिंदी गाने घर-घर में बजते हैं। टैक्सी-कारों से निकल कर उनकी आवाज बाहर सड़क के शोर से होड़ लेती है।

सिनेमा-संगीत की छोटी-बड़ी सब दुकानों पर हॉलीवुड और बॉलीवुड की धूम है। कहीं-कहीं रूसी फिल्में भी दिखीं। लेकिन सारा बाजार छान मारने के बाद भी अफगानिस्तान के प्रतिभावान निर्देशक सिद्दीक बरामाक की चर्चित फिल्म 'उसामा' कहीं दिखाई नहीं दी। न मोहसिन मखमलबाफ की 'कंधार'।

'उसामा' तालिबान युग की त्रासदी का दस्तावेज है। फीचर फिल्म है, मगर एक-एक दृश्य इतना यथार्थपरक कि कथा न हो तो लगे कोई वृत्तचित्र होगा। लड़ाई के बाद घर में कोई पुरुष नहीं बचा है। दादी, मां, पोती। कमाने वाला एक नहीं। औरतें काम पर जा नहीं सकतीं। एक रात मां मासूम लड़की के बाल काट देती है। जा, लड़के (उसामा) की तरह जा और रोटी कमा कर ला। तालिबान पहचान लेंगे, इस खौफ में लड़की पर हजार कयामतें बरपा होती हैं। ऐसी दारुण दास्तान जैसे एक फिल्म पूरे दमन के बरअक्स उठ खड़ी होती हो। आज जम्हूरियत के दौर में 'उसामा' अफगानिस्तान के संसार में नहीं होगी तो कब होगी?

मोहसिन मखमलबाफ की 'कंधार' ने चाहे दुनिया में झंडे गाड़े हों, यहां उसकी भी कोई कद्र नहीं। कई लोगों को फिल्म का नाम भी नहीं मालूम था। अफगान-ईरान ही नहीं, समूचे मध्य-एशिया की फिल्में काबुल के बाजार में कहीं नहीं हैं।

ऋग्वेद और मौर्य काल के हवाले लोगों को भारत से रिश्तों के सिलसिले में याद आ जाते हैं। अमिताभ बच्चन और बॉलीवुड के खान बहादुर भी। लेकिन मुझे अचरज हुआ कि रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानी 'काबुलीवाला' का पता लोगों को नहीं था। काबुल के मजबूर प्रवासी अब्दुल रहमान खान (बलराज साहनी) और हिंदू बच्ची मिनी (सोनू) की दोस्ती की जो बेजोड़ दास्तान है। मानवीय स्तर पर गहरी संवेदना से भरी वह फिल्म हिंदू-मुसलिम मुद्दे पर अलग से जोर दिए बगैर बड़ा काम कर जाती है।

मैंने वहां कई दोस्तों को 'काबुलीवाला' कहानी और उस पर बंगाली में तपन सिन्हा, मलयालम में लाल-सिद्दीक और हिंदी में बनी बिमल राय की (हेमेन गुप्ता निर्देशित) फिल्म के बारे में बताया। यह कहते हुए कि हिंदी फिल्म में प्रवासी अफगानों के लिए गाए गए मन्ना डे के गाने 'ऐ मेरे प्यारे वतन' को भारत में लोग अपने वतन की तारीफ में भी गा लेते हैं। भावार्थ बयान करने के चक्कर में फरीदा नेकजाद और दाऊद वासिफ को मैंने वह गाना बगैर सुर के सुना भी डाला। पता नहीं क्यों, 'मां का दिल बनके कभी सीने से लग जाता है तू' बोलते वक्त गला भर आया। मन्ना डे के स्वर की वह कंपन और डूब और कहीं महसूस नहीं हुई। फरीदा और दाऊद की दिलचस्पी देखकर मैंने उन्हें 'काबुलीवाला' का सार भी बताया। अफगानी लहजे में खान के संवाद दुहराते हुए- ''ओ बची, वो आज हम अपने ससुर के घर (जेल) को जाती है!''

लौटकर 'काबुलीवाला' की डीवीडी मैंने दोनों को भिजवाई है, जिसमें हिंदी संवादों का तर्जुमा भी है।

आजादी की लहर अफगानिस्तान में संगीत को वापस ले आई है। तालिबान ने और चीजों के साथ गाना-बजाना भी दफ्न कर दिया था। कठिन और शुष्क-से संसार में संगीत वहां रौनक घोलता था। समारोहों और शादी-ब्याह में संगीत की अपनी जगह थी। संगीत को गैर-इस्लामी मानने वाले तालिबान ऐसे ब्याह-जलसों पर घात लगाए रहते थे, जहां कोई सुर उठने की आशंका हो। गाते हुए कई अफगान उन्होंने मौत के घाट उतारे।

संगीत ने समाज में फिर अपनी जगह बना ली है। शायद ही कोई ऐसी शादी होती होगी, जिसमें नाच-गाना न हो। अफगानी लोक संगीत दिलकश है। ऊंची आवाज में सुर में खिंचाव के साथ गाते हैं। सार्वजनिक समारोहों में पुरुष गाते हैं, वे ही नाचते हैं। हाथ की अंगुलियों में बंधे रूमाल और सिर के लंबे बालों को एक साथ हवा में लहराते हुए। हमारे औपचारिक और किंचित बौद्धिक कार्यक्रम के बीच भी आयोजकों ने लोक संगीत और मर्दाना नाच की जगह निकाल ली। नाच मुझे नहीं जमा। गायन के जो बोल पकड़ में आए, उनसे साफ था कि देशभक्ति का गीत है। लेकिन गायकी दमदार थी। यह लोक शैली की खूबी है कि उसमें शब्दों से स्वर बड़ा होता है। लोकप्रिय आधुनिक गायन में शब्द भाव का संचार ज्यादा करते हैं।

सिनेमा चाहे न हो, अफगानी लोक संगीत वहां खूब उपलब्ध है। हालांकि मशहूर कलाकारों की तादाद ज्यादा नहीं है। एक लोकप्रिय गायक अहमद जहीर हुए। अफगानी संगीत में वे आधुनिकता की बयार लाए। अपनी शायरी खुद गाते थे। साठ के दशक में शाह जहीर के दौर में उनके पिता डॉ. अब्दुल जहीर भारत में अफगानिस्तान के राजदूत थे। दिल्ली में दो साल पढ़ते-न-पढ़ते अहमद जहीर भारतीय संगीत से वाबस्ता हुए। बाद में शौकिया सुर आजमाने लगे। पढ़ाई छूट गई। मुल्क लौट कर डॉ. जहीर मंत्री और फिर प्रधानमंत्री बने।

मगर आज लोगों के दिलों में ''बुलबुले-अफगान'' अहमद जहीर की जगह ज्यादा है। इसकी वजह और भी है। अहमद बेहतरीन गायक होने के साथ खूबसूरत थे। बहुत-सी औरतें उनकी मुरीद थीं। एक से इश्क हुआ, पर वह शादीशुदा थी। उसके शौहर को पता चला। काबुल में और क्या हो सकता थाः शौहर ने एक शाम गाते हुए अहमद जहीर को मौत की नींद सुला दिया। अफगानिस्तान में संगीत का असरदार चिराग असमय बुझ गया। इस बात को बीस बरस हो गए हैं। जहीर के नजदीक पहुंचने वाला दूसरा नाम सामने नहीं आया है। संगीत की दुकानों में ढेर भारतीय गायक मौजूद हैं या एक अकेले अहमद जहीर।

राह चलते मिले एक अफगान से हुई मुलाकात में जब बताया गया कि भारत से हूं, तो उसकी आंखें चमक उठीं। बोला- हिंद ज्वांदेई दिवी! अर्थ बताया गया- हिंदुस्तान जिंदाबाद! मैंने उसी स्वर में जवाब दिया- अफगानिस्तान ज्वांदेई दिवी! उसने और ऊंची आवाज में कहा- पाकिस्तान मर दिवी! इस दफा अर्थ पूछने की

जरूरत अनुभव नहीं हुई। पर कुछ बोला भी नहीं गया। इस तरह नहीं सोचता। उसे हैरान देखकर मैं नरम आवाज में बोला- सब ज्वांदेई दिवी! मेरे दोस्त ने उसके लिए पहले शब्द को बदल कर दुहराया- तमाम ज्वांदेई दिवी।

साफ था कि अफगान ने बात समझी, पर उसे वह पची नहीं। उसके मौन में एक किस्म की बेचैनी मुखर थी। खुदा-हाफिज के वक्त शुरू के सलाम का जोश भी शायद मद्धम पड़ चुका था।

कहने की जरूरत नहीं कि पाकिस्तान को लेकर बहुत नफरत है। इतनी कि भारत में संघ के कुनबे में भी क्या होगी। वजह यह है कि अफगान मानते हैं तालिबान को दीक्षा पाकिस्तान में मिली। सरकार बनने पर सबसे पहले मान्यता भी वहीं से आई। दूसरी वजह शायद यह है कि मुल्ला उमर और उसामा बिन लादेन दोनों के पाकिस्तान में छुपे होने का शुबहा आम है। दो शख्स, जिन्हें अफगान अपनी बरबादी का बाइस मानते हैं। एक कवि ने ठंडी जुबान में कहा कि पाकिस्तान की वजह से ही मुल्क में पश्तो के साथ भेदभाव हुआ है। वह स्कूलों में पढ़ाई तक नहीं जा रही। जबकि करजाई खुद पख्तून हैं। वे शायद बहुसंख्य दरी भाषी समाज की नाराजगी मोल लेना नहीं चाहते।

''यों ज्यादातर अफगान दोनों जुबानें बोल-समझ लेते हैं। मगर क्या मैं कविता पराई जबान में कर सकता हूं?'' वे कुछ तैश में आए। मगर फिर धीमे पड़ते हुए बोले, ''मेहरबानी कर यह लिखें नहीं। अभी यहां हिंद जैसा खुला माहौल नहीं है।'' उनसे यह भी पता चला कि नजीबुल्ला के राज में दरी के साथ रूसी दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती थी। ''क्योंकि अप्रैल-क्रांति लाने वाली सरकार की पीठ पर तब रूस सवार था!''

दरी भाषा फारसी का अफगानी संस्करण है। अफगानिस्तान दर्रों का देश है। दर्रों के आर-पार बोली जाने वाली जुबान दरी कहलाने लगीः नामकरण समझने की मगजपच्ची करने वालों का एक कयास यह भी है।

काबुल के अलग इलाकों का अलग रंग है। घरों का, पहनावे का, बर्ताव का। हवाई अड्डे की राह में मिट्टी की ईंटों वाले घर हैं। कच्ची सड़कें, कच्चे घर। जैसे हम किसी आदिम नगर की सड़कें नाप रहे हों। आगे आएं तो नई बहुमंजिली इमारतें मिलेंगी। इनके केंद्र में शहरे-नौ है। वहां हाथ मिलाने वाले मिलेंगे। मगर पुरानी बस्ती में एक नहीं। वहां तपाक से लोग गले मिलते हैं। एक तरफ आला विदेशी कारें-टैक्सियां हैं। दूसरी तरफ गधे से जुती गाड़ियां। चिकन स्ट्रीट पर आधुनिक परिधान और तेज चाल का नजारा है। वहां मुझे बुर्के में एक ही औरत दिखी, जो भीख मांगती थी। कम से कम इस मामले में बुर्का बुरा नहीं! डाउनटाउन में बुर्कों की बहार है।

उस बाजार में चहल-पहल नहीं, शोर है। लगता है बाजार न हो, हाट हो। बर्तन, खिलौने, परांठे के आकार वाले समोसे, मकई के फूले हुए दाने, फौजी रुतबे के कपड़े, शक्करपारे। अपनी दाढ़ी रंगकर कपड़े-ऊन रंगने वाले रंगरेज, उस्तरे भांजते नाई- जिनका काम फिर चल निकला है- और सिलाई-कशीदे की मशीनों पर पांव नचाते दर्जी। और जिंस की तरह बिकते अफगानी नोट। काबुल दरिया के दोनों तरफ का बाजार जमीन पर सफेद चादरों पर बिछा हुआ है।

अफगानिस्तान के कालीन मशहूर हैं। वे हर बाजार में मिलेंगे। घरों-होटलों में, घोड़ों-ऊंटों की पीठ पर, कारों, फटफटी, यहां तक कि बाइसिकल की सीटों तक पर अफगान उनका प्रयोग करते हैं। हुनरमंद कालीनों की बारीक बुनाई करते हैं, सघन रूपाकार बनाते हैं। खास बात यह है कि ऊन को वनस्पतियों से हासिल होने वाले प्राकृतिक और पारंपरिक रंगों में रंगते हैं। इस मशक्कत में रंग निखरते हैं, पर लागत भी ज्यादा आती है। इसलिए छोटे बाजारों में कोरिया के चिकने बनावटी 'ऊन' के कालीन बिकने लगे हैं। कालीनों के साथ मुल्क के रत्नों- पन्ना, फीरोजा, लाजवर्द आदि- का बड़ा निर्यात है।

बदख्शां शहर के नाम से लाल (माणिक्य) का खयाल आता है और लाल कहने पर बदख्शां का। शायद वली दकनी की शायरी भी आपको याद आएः तुझ लब की सिफत लाले-बदख्शां सू कहूंगा! लेकिन ये चीजें डाउनटाउन का सामान नहीं हैं। बड़े बाजारों में रत्न के साथ खान से निकाल कर लाए गए वे पत्थर प्रदर्शित हैं, जिन पर प्राकृतिक रूप में अनगढ़ रत्न जुड़े हैं। मेरे लिए उन बड़े पत्थरों को देखना अपने में रोमांचक अनुभव था। ऐसे खुरदरे पत्थर की खरीद की पेशकश की। दुकानदार ने हंस कर टाल दिया, ''इनका क्या करेंगे! तराशा जाएगा, फिर पॉलिश होकर जड़ेगा, तब जाकर मुनव्वर होगा। इसके चेहरे पर नूर आएगा!''

शाम ढली। बारिश हुई। कुछ भूख जागी। और मेरे लिए अफगानिस्तान की मानो सबसे बड़ी समस्या सामने आ खड़ी हुई। कट्टर शाकाहारी हूं; लहसुन-प्याज भी नहीं खा पाता। जबकि काबुल में एक रेस्तरां शाकाहारी नहीं है। चीन में भी गुजारे को कुछ-न-कुछ मिल गया था। यहां ढूंढ़-ढूंढ़ कर आंतें दुहरी हो गईं। दिल्ली से अलस्सुबह निकला था। काबुल उतरते ही भटकने लगा। हाथ में एक दिन था। अगले रोज साफमा की संगोष्ठी थी, जिसके लिए आया था।

भला हो दाऊद का, जिसने कहा मेवे ले जाना चाहें तो राह में अच्छी दुकानें हैं। मैंने कहा पहले चख लें, फिर खरीदेंगे। गुजारा ऐसे शुरू हुआ। बीस किस्म के बादाम। दस तरह की किशमिश। गूलर जैसे अंजीर। खुबानी, अखरोट, चिलगोजे। और भुने हुए चने, जो मेवे की हर दुकान पर सजे रहते हैं। आप भाव पूछें, दुकानदार हथेली पर नमूना परोस देगा।। चखिए, इसरार करेगा। नेकी और पूछ-पूछ कर।

खरीदारी के बीच ताजे फलों की दुकान मिल गई। फलों ने ऐसे विपरीत हालात में बहुत साथ दिया है। मगर कहना होगा कुछ अफगानी फलों का सानी नहीं। कंधार के अनार, जलालाबाद की नारंज (नारंगी) और बदख्शां के सेब मशहूर हैं। चमन के अंगूर भी, जो अब बलूचिस्तान में पड़ता है। और भी दूसरे ढेर फल। आड़ू, जरदालू और गरमा (शक्ल तरबूज की, जायका खरबूजे का)। और आलूबुखारे, जिन्हें मिश्री की तरह मीठा पाया। मैं मानकर चलता था, वे खट्टे-मीठे ही होते हैं। यह जायका हमेशा याद रहेगा। जैसे लाड़काणा के अमरूद का याद है। या कल्पा की चूली (खुबानी) का।

काबुल में फलों का ताजा रस भी हर जगह मिल जाता है। जैसे हमारे यहां। कथित विकसित देशों में यह चीज दुर्लभ है। मैंने जरदक (गाजर) की एक गिलास पर भी हाथ साफ किया। सूखे मेवे का इलाका है। फलों के रस में भी कागजी बादाम का चूरा मिला देते हैं! अंजीर के बीजों की तरह वह हर गिलास पर तैर जाता है।

लेकिन फलों और जरदक-रस से जीभ बहली, पेट नहीं। पजवाक के दफ्तर पहुंच कर फरीदा को कहा, बिरहमिन के साथ इस जुल्म का पाप लगेगा! उन्होंने कहा, खाने के मामले में इतना नाजुकमिजाज दूसरा नहीं देखा। मैंने कहा, जिसे देखा उसके लिए कुछ तो कीजिए। वे उठ खड़ी हुईं। चलिए! गाड़ी एक दुकान के आगे रुकवाई। रोटियों की दुकान थी। लंबी- कोई गज भर की- रोटियां, दुकान के बाहर लटकी हुईं, जैसे घरों के बाहर बस्तियों में कपड़े सूखते हैं। उन्हें देखकर समझ आया क्यों कहा जाता है कि चाहे जो हो अफगान कभी भूखा नहीं मर सकता।

फरीदा बोलीं, नान है। खाकर देखिए! मैंने कहा, नान में अंडा होगा। नानबाई उर्दू जानता था। बोला, हमारे यहां नान आटे की होती है। आपकी तरफ मैदे की। दूसरे, अंडा हम इस्तेमाल नहीं करते। ''इस नान का दाम छह अफगानी (रुपए) है। अंडा भी छह रुपए का आता है। हुजूर, नान में अंडा डालेंगे तो खाएंगे क्या!'' यानी कमाएंगे क्या।

सुनकर मेरी बांछें खिल गईं। कार के भीतर बैठकर फरीदा ने आधी नान मुझे थमाई, बाकी खुद चबाने लगीं। ताजी नान में नमक का तालमेल ऐसा था कि यह न सोचें कि बगैर सहारे उसे खाया कैसे। हां, आधी नान मैंने चालक की तरफ बढ़ा दी, कहते हुए कि इतनी भूख नहीं है! फरीदा समझ गईं। बोलीं, यहां तो ऐसे मर्द हैं जो दो नान अकेले खा सकते हैं। जरूर होंगे। हमारे बीकानेर में भी बीस लड्डू, तीस कचोरी खाने वाले मौजूद हैं। उससे क्या।

मुझे याद आया, दिल्ली में कथाकार नासिरा शर्मा ने कहा था कि दिक्कत न हो तो आते वक्त काबुल से दो गजधर नान उनके लिए लेता आऊं। नासिरा ठीक बीस साल पहले काबुल आई थीं। इतिहास के बहुत नाजुक दौर में। अफगानिस्तान पर उन्होंने दो अहम किताबें लिखी हैं और सुंदर कहानियां भी। काबुल रवाना होने से पहले उनसे लंबी और काम की बात हुई थी।

अगले रोज हवाई अड्डे की तरफ बढ़े तो गाड़ी फिर उसी नानबाई के सामने रुकवा दी। उतरा और चार नान खरीद लाया। काबुल में नान को खुले देते हैं, खुले ले जाते हैं। शायद इसलिए कि नम न पड़ जाए।

हवाई अड्डे पर बंदूकधारियों का मंजर आम है। उनके बीच तलवार की तरह दोनों हाथों में नान थामे एक शख्स मैं ही रहा होऊंगा।

पहुंचते ही नासिराजी ने बड़े चाव से उन्हें मंगवा लिया है। मैं समझता हूं नान से उन्हें मेरी तरह पेट भरने की गरज नहीं; काबुल की नान शायद उनकी यादों की तल्ख दरारों को भरे।